



राधाकृष्ण पेपरबैक्स



त्रिशंकु  
मन्नू भंडारी

'आपका बंटी' और 'महाभोज' जैसे उपन्यासों की लेखिका मन्नू भंडारी की कहानियाँ अपनी सादगी और अनुभूति की प्रामाणिकता के कारण जानी जाती हैं। चौंधियाने, चमत्कृत करनेवाले शिल्प से बचते हुए उन्होंने नई कहानी को अत्यंत सहज रूप में प्रस्तुत किया है। स्त्री के मन, पुरुष की ईर्ष्या, सब-कुछ समझकर भी कुछ न समझ पाने की विवशता और तथाकथित आधुनिकता का संयमित विरोध, आदि उनकी कहानियों में रचनात्मक स्तर पर चित्रित हुआ है। इस संकलन की प्रतिनिधि कहानी 'त्रिशंकु' मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी तबके की छद्म आधुनिकता पर बड़ी सहजता और मासूमियत के साथ प्रहार करती है। कहानी की 'तनु' अपने माता-पिता की ओढ़ी हुई आधुनिकता और भीतर गहरे तक जमे पुरातन संस्कारों के बीच अकस्मात् ही फँस जाती है और अपनी इसी व्याकुलता के चलते लेखिका से एक जबरदस्त कहानी लिखवा लेती है।

आवरण-चित्र : सतीश गुजराल

राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली ISBN : 81-7119-484-2

त्रिशंकु

मन्नू भंडारी



राधाकृष्ण पेपरबैक्स

त्रिशंकु  
मन्नू भंडारी



“यार, तुम जैसे लोगों को बहुत धुलना-मिलना नहीं चाहिए बीवी-बच्चों में। इतनी शिक्षा देता है यह गुरु, तुम लोग फिर भी सीखते नहीं हो। बेटा, अपनी जिंदगी तो इन मशीनों के साथ बँधी है, समझे! इनको तेल पिलाओ और चलाओ।”

और फिर उसके हाथ में तेल की कुप्पी थमाते हुए बोला, “इधर के हिस्से की ऑइलिंग तो कर बे ज़रा लपक के।”

राखाल ने कुप्पी ली और मशीन के सामने खड़े होकर कुप्पी की नोक छेदों में लगाकर पूरे मनोयोग से तेल डालने लगा।

## त्रिशंकु

‘घर की चहारदीवारी आदमी को सुरक्षा देती है पर साथ ही उसे एक सीमा में बाँधती भी है। स्कूल-कालेज जहाँ व्यक्ति के मस्तिष्क का विकास करते हैं, वहीं नियम-कायदे और अनुशासन के नाम पर उसके व्यक्तित्व को कुंठित भी करते हैं।’ बात यह है बंधु, कि हर बात का विरोध उसके भीतर ही रहता है।’

ये सब मैं किसी किताब के उदाहरण नहीं पेश कर रही। ऐसी भारी-भरकम किताबें पढ़ने का तो मेरा बूता ही नहीं। ये तो उन बातों और बहसों के टुकड़े हैं जो रात-दिन हमारे घर में हुआ करती हैं। हमारा घर यानी बुद्धिजीवियों का अखाड़ा। यहाँ सिगरेट के धुएँ और काफी के प्यालों के बीच बातों के बड़े-बड़े तूमार बाँधे जाते हैं। बड़ी-बड़ी शाब्दिक क्रांतियाँ की जाती हैं। इस घर में काम कम और बातें ज़्यादा होती हैं। मैंने कहीं पढ़ा तो नहीं, पर अपने घर से यह लगता ज़रूर है कि बुद्धिजीवियों के लिए काम करना शायद वर्जित है। मातुश्री अपनी तीन घंटे की तफरीहनुमा नौकरी बजाने के बाद मुक्त। थोड़ा-बहुत पढ़ने-लिखने के बाद जो समय बचता है वह या तो बात-बहस में जाता है या फिर लेट लगाने में। उनका खयाल है कि शरीर के निष्क्रिय होते ही मन-मस्तिष्क सक्रिय हो उठते हैं और वे दिन के चौबीस घंटों में से बारह घंटे अपना मन-मस्तिष्क ही सक्रिय बनाये रखती हैं। पिताश्री और भी दो कदम आगे! उनका बस चले तो वे नहाएँ भी अपनी मेज़ पर ही।

जिस बात की हमारे यहाँ सबसे अधिक कताई होती है, वह है—आधुनिकता! पर ज़रा ठहरिए, आप आधुनिकता का ग़लत अर्थ मत लगाइए। यह बाल कटाने और छुरी-कॉटे से खानेवाली आधुनिकता कतई नहीं है। यह है ठेठ बुद्धिजीवियों की आधुनिकता! यह क्या होती है सो तो ठीक-ठीक मैं भी नहीं जानती—पर हाँ, इसमें लीक छोड़ने की बात बहुत सुनाई देती है। आप लीक को दुलती झाड़ते आइए, सिर-आँखों पर—लीक से चिपककर आइए, दुलती खाइए।

बहसों में यों तो दुनिया-जहान के विषय पीसे जाते हैं पर एक विषय शायद सब लोगों का बहुत प्रिय है और वह है शादी। शादी यानी बर्बादी। हल्के-फुल्के ढंग से शुरू हुई बात एकदम बौद्धिक स्तर पर चली जाती है—विवाह-संस्था एकदम खोखली हो चुकी है। पति-पत्नी का सम्बन्ध बड़ा नकली और ऊपर से थोपा हुआ है। और फिर धुआँधार ढंग से विवाह की धज्जियाँ उड़ाई जाती हैं। इस बहस में अक्सर स्त्रियाँ एक तरफ हो जातीं और पुरुष एक तरफ और बहस का माहौल कुछ ऐसा गरम हो जाता करता कि मुझे पूरा विश्वास हो जाता कि अब जरूर एक-दो लोग तलाक दे बैठेंगे। पर मैंने देखा कि ऐसा कोई हादसा कभी हुआ नहीं। सारे ही मित्र लोग अपने-अपने ब्याह को खूब अच्छी तरह तह-समेट कर, उस पर जमकर आसन मारे बैठे हैं। हाँ, बहस की रफ्तार और टोन आज भी वही है।

अब सोचिए, ब्याह को कोसेंगे तो फ्री-लव और फ्री-सेक्स को तो पोसना ही पड़ेगा। इसमें पुरुष लोग उछल-उछलकर आगे रहते—कुछ इस भाव से मानो बात करते ही इनका आधा सुख तो वे ले ही लेंगे। पापा खुद बड़े समर्थक! पर हुआ यों कि घर में हमेशा चुप-चुप रहनेवाली दूर-दराज की एक दिदिया ने बिना कभी इन बहसों में भाग लिये ही इस पर पूरी तरह अमल कर डाला तो पाया कि सारी आधुनिकता अड़ड़धम! वह तो फिर ममी ने बड़े सहज ढंग से सारी बात को सँभाला और निरर्थक विवाह के बंधन में बाँधकर दिदिया का जीवन सार्थक किया। हालाँकि यह बात बहुत पुरानी है और मैंने तो बड़ी दबी-ढकी ज़बान से इसका जिक्र ही सुना है।

वैसे पापा-ममी का भी प्रेम-विवाह हुआ था। यों यह बात बिलकुल दूसरी है कि होश सँभालने के बाद मैंने उन्हें प्रेम करते नहीं केवल बहस करते ही देखा है। विवाह के पहले अपने इस निर्णय पर ममी को नाना से भी बहुत बहस करनी पड़ी थी और बहस का यह दौर बहुत लम्बा भी चला था शायद। इसके बावजूद यह बहस-विवाह नहीं, प्रेम-विवाह ही है, जिसका जिक्र ममी बड़े गर्व से किया करती हैं। गर्व, विवाह को लेकर नहीं, पर इस बात को लेकर है कि किस प्रकार उन्होंने नाना से मोर्चा लिया। अपने और नाना के बीच हुए संवादों को वे इतनी बार दोहरा चुकी हैं कि मुझे वे कंठस्थ से हो गए हैं। आज भी जब वे उसकी चर्चा करती हैं तो लीक से हटकर कुछ करने का संतोष उनके चेहरे पर झलक उठता है।

बस, ऐसे ही घर में मैं पल रही हूँ—बड़े मुक्त और स्वच्छंद ढंग से। और

पलते-पलते एक दिन अचानक बड़ी हो गयी। बड़े होने का यह अहसास मेरे अपने भीतर से इतना नहीं फुटा, जितना बाहर से। इसके साथ भी एक दिलचस्प घटना जुड़ी हुई है। हुआ यों कि घर के ठीक सामने एक बरसाती है—एक कमरा और उसके सामने फैली छत! उसमें हर साल दो-तीन विद्यार्थी आकर रहते। छत पर घूम-घूमकर पढ़ते, पर कभी ध्यान ही नहीं गया। शायद ध्यान जाने जैसी मेरी उम्र ही नहीं थी। इस बार देखा, वहाँ दो लड़के आये हैं। थे तो वे दो ही, पर शाम तक उनके मित्रों का एक अच्छा-खासा जमघट हो जाता और सारी छत ही नहीं, सारा मोहल्ला तक गुलजार! हँसी-मजाक, गाना-बजाना और आस-पास की जो भी लड़कियाँ उनकी नज़र के दायरे में आ जातीं, उन पर चुटीली फ़ब्तियाँ। पर उनकी नज़रों का असली केंद्र हमारा घर और स्पष्ट कहूँ तो मैं ही थी। बरामदे में निकलकर मैं कुछ भी करूँ, उधर से एक न एक रिमार्क हवा में उछलता हुआ टपकता और मैं भीतर तक थरथरा उठती। मुझे पहली बार लगा कि मैं हूँ और केवल हूँ ही नहीं। किसी के आकर्षण का केंद्र हूँ। ईमानदारी से कहूँ तो अपने होने का यह पहला अहसास बड़ा रोमांचक लगा और अपनी ही नज़रों में मैं नयी हो उठी। नयी और बड़ी।

अजीब-सी स्थिति थी। जब वे फ़ब्तियाँ कसते तो मैं गुस्से से भन्ना जाती—हालाँकि उनकी फ़ब्तियों में अशिष्टता कहीं नहीं थी। थी तो केवल मन को सहलानेवाली एक चुहल। पर जब वे नहीं होते या होकर भी आपस में ही मशगूल रहते तो मैं प्रतीक्षा करती रहती। एक अनाम-सी बेचैनी भीतर-ही-भीतर कसमसाती रहती। आलम यह है कि हर हालत में ध्यान वहीं अटका रहता और मैं कमरा छोड़कर बरामदे में ही टँगी रहती।

पर इन लड़कों के इस हल्ले-गुल्लेवाले व्यवहार ने मोहल्लेवालों की नींद जरूर हराम कर दी। हमारा मोहल्ला यानी हाथरस-खुरजा के लालाओं की बस्ती। जिनके घरों में किशोरी लड़कियाँ थीं वे बाँहें चढ़ा-चढ़ाकर दाँत और लात तोड़ने की धमकियाँ दे रहे थे क्योंकि सबको अपनी लड़कियों का भविष्य खतरे में जो दिखाई दे रहा था। मोहल्ले में इतनी सरगर्मी और मेरे ममी-पापा को कुछ पता ही नहीं। बात असल में यह है कि इन लोगों ने अपनी स्थिति एक द्वीप जैसी बना रखी है। सबके बीच रहकर भी सबसे अलग।

एक दिन मैंने ममी से कहा, “ममी, ये जो सामने लड़के आये हैं, जब देखो मुझ पर रिमार्क पास करते हैं। मैं चुपचाप नहीं सुनूँगी, मैं भी यहाँ से जवाब दूँगी।”

“कौन लड़के?” ममी ने आश्चर्य से पूछा।

कमाल है, ममी को कुछ पता ही नहीं। मैंने कुछ खीज और कुछ पुलक के मिले-जुले स्वर में सारी बात बताई। पर ममी पर कोई विशेष प्रतिक्रिया ही नहीं हुई।

“बताना कौन हैं ये लड़के?” बड़े ठंडे लहजे में उन्होंने कहा और फिर पढ़ने लगीं। अपना छेड़ा जाना मुझे जितना सनसनीखेज लग रहा था, उस पर माँ की ऐसी उदासीनता मुझे अच्छी नहीं लगी। कोई और माँ होती तो फेंटा कसकर निकल जाती और उनकी सात पुश्तों को तार देती। पर माँ पर जैसे कोई असर ही नहीं।

दोपहर ढले लड़कों की मज़लिस छत पर जमी तो मैंने ममी को बताया :  
“देखो, ये लड़के हैं जो सारे समय इधर देखते रहते हैं और मैं कुछ भी करूँ उस पर फ़ब्कियाँ कसते हैं।” पता नहीं मेरे कहने में ऐसा क्या था कि माँ एकटक मेरी ओर देखती रहीं, फिर धीरे से मुस्कराई। थोड़ी देर तक छतवाले लड़कों का मुआयना करने के बाद बोलीं :

“कॉलेज के लड़के मालूम होते हैं, पर ये तो एकदम बच्चे हैं।”

मन हुआ, कहूँ कि मुझे बच्चे नहीं तो क्या बूढ़े छेड़ेंगे? पर तभी ममी बोलीं,  
“कल शाम को इन लोगों को चाय पर बुला लेते हैं और तुमसे दोस्ती करवा देते हैं।”

मैं तो अवाक्!

“तुम इन्हें चाय पर बुलाओगी?” मुझे जैसे ममी की बात पर विश्वास ही नहीं हो रहा था।

“हाँ, क्यों, क्या हुआ? अरे, यह तो हमारे ज़माने में होता था कि मिल तो सकते नहीं, बस, दूर से ही फ़ब्कियाँ कस-कसकर तसल्ली करो। अब तो ज़माना बदल गया।”

मैं तो इस विचार-मात्र से ही पुलकित। लगा, माँ सचमुच कोई ऊँची चीज़ हैं। ये लोग हमारे घर आयेंगे और मुझसे दोस्ती करेंगे। एकाएक मुझे लगने लगा कि मैं बहुत अकेली हूँ और मुझे किसी की दोस्ती की संख्त आवश्यकता है। इस मोहल्ले में मेरा किसी से विशेष मेल-जोल नहीं और घर में केवल ममी-पापा के दोस्त ही आते हैं।

दूसरा दिन मेरा बहुत ही संशय में बीता। पता नहीं ममी अपनी बात पूरी भी करती हैं या यों ही रौं में कह गयीं और बात ख़तम। शाम को मैंने याद दिलाने के लिए ही कहा :

“ममी, तुम सचमुच ही उन लड़कों को बुलाने जाओगी?” शब्द मेरे यही थे, वरना भाव तो था कि ममी जाओ न—प्लीज़!

और ममी सचमुच ही चली गई। मुझे याद नहीं, ममी दो-चार बार से अधिक मोहल्ले में किसी के घर गई हों। मैं साँस रोककर उनके लौटने की प्रतीक्षा करती रही। एक विचित्र-सी थिरकन मैं अंग-प्रत्यंग में महसूस कर रही थी। कहीं ममी साथ ही लेती आई तो? कहीं वे ममी से बदतमीज़ी से पेश आए तो? पर नहीं, वे ऐसे लगते तो नहीं हैं। कोई घंटे-भर बाद ममी लौटीं। बेहद प्रसन्न।

“मुझे देखते ही उनकी तो सिट्टी-पिट्टी ही गुम हो गई। उन्हें लगा, अभी तक तो लोग अपने-अपने घरों से ही उनके लात-दाँत तोड़ने की धमकी दे रहे थे, मैं जैसे सीधे घर ही पहुँच गई उनकी हड्डी-पसली एक करने। पर फिर तो इतनी ख़ातिर की बेचारों ने कि बस! बड़े ही स्वीट बच्चे हैं। बाहर से आए हैं—हॉस्टल में जगह नहीं मिली इसलिए कमरा लेकर रह रहे हैं। शाम को जब पापा आयेंगे तब बुलवा लेंगे।”

प्रतीक्षा में समय इतना बोझिल हो जाता है, यह भी मेरा पहला अनुभव था। पापा आये तो ममी ने बड़े उमगकर सारी बात बताई। सबसे कुछ अलग करने का संतोष और गर्व उनके हर शब्द में से जैसे छलका पड़ रहा था। पापा ही कौन पीछे रहनेवाले थे। उन्होंने सुना तो वे भी प्रसन्न।

“बुलाओ लड़कों को! अरे खेलने-खाने दो और मस्ती मारने दो बच्चों को।” ममी-पापा को अपनी आधुनिकता तुष्ट करने का एक जोरदार अवसर मिल रहा था।

नौकर को भेजकर उन्हें बुलवाया गया तो अगले ही क्षण सब हाज़िर! ममी ने बड़े क्रायदे से परिचय करवाया और ‘हलो—हाउई’ का आदान-प्रदान हुआ।

“तनु बेटे, अपने दोस्तों के लिए चाय बनाओ!”

धत्तरे की! ममी के दोस्त आयें तब भी तनु बेटा चाय बनाए और उसके दोस्त आएँ तब भी! पर मन मारकर उठी।

चाय-पानी होता रहा। ख़ूब हँसी-मज़ाक भी चली। वे सफ़ाई पेश करते रहे कि मोहल्लेवाले झूठ-मूठ ही उनके पीछे पड़े रहते हैं... वे तो ऐसा कुछ भी नहीं करते। ‘जस्ट फार फन’ कुछ कर दिया वरना इस सबका कोई मतलब नहीं।

पापा ने बढ़ावा देते हुए कहा, “अरे, इस उमर में तो यह सब करना ही चाहिए। हमें मौका मिले तो आज भी करने से बाज न आयें।”

हँसी की एक लहर यहाँ से वहाँ तक दौड़ गयी। कोई दो घंटे बाद वे चलने

लगे तो ममी ने कहा, "देखो, इसे अपना ही घर समझो। जब इच्छा हो, चले आया करो। हमारी तनु बिटिया को अच्छी कम्पनी मिल जाएगी" कभी तुम लोगों से कुछ पढ़ भी लिया करेगी और देखो, कुछ खाने-पीने का मन हुआ करे तो बता दिया करना, तुम्हारे लिए बनवा दिया करूँगी" और वे लोग पापा के खुलेपन और ममी की आत्मीयता और स्नेह पर मुग्ध होते हुए चले गये। बस, जिससे दोस्ती करवाने के लिए उन्हें बुलाया गया था, वह बेचारी इस तमाशे की मात्र दर्शक भर ही बनी रहीं।

उनके जाने के बाद बड़ी देर तक उनको लेकर ही चर्चा होती रही। अपने घर की किशोरी लड़की को छेड़नेवाले लड़कों को घर बुलाकर चाय पिलाई जाए और लड़की से दोस्ती करवाई जाये, यह सारी बात ही बड़ी थ्रिलिंग और रोमांचक लग रही थी। दूसरे दिन से ममी हर आनेवाले से इस घटना का उल्लेख करतीं। वर्णन करने में पटु ममी नीरस से नीरस बात को भी ऐसा दिलचस्प बना देती हैं, फिर यह तो बात ही बड़ी दिलचस्प थी। जो सुनता वही कहता—वाह, यह हुई न कुछ बात! आपका बड़ा स्वस्थ दृष्टिकोण है चीजों के प्रति, वरना लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करेंगे पर बच्चों को घोटकर रखेंगे और ज़रा-सा शक-शुबह हो जाए तो बाकायदा जासूसी करेंगे। और ममी इस प्रशंसा से निहाल होती हुई कहती—और नहीं तो क्या? मुक्त रहो और बच्चों को मुक्त रखो। हम लोगों को बचपन में 'यह मत करो' 'यहाँ मत जाओ' कह-कहकर कितना बाँधा गया था! हमारे बच्चे तो कम-से-कम इस घुटन के शिकार न हों!

पर ममी का बच्चा उस समय एक दूसरी ही घुटन का शिकार हो रहा था और वह यह कि जिस नाटक की हीरोइन उसे बनना था, उसकी हीरोइन ममी बन बैठीं।

खैर, इस सारी घटना का परिणाम यह हुआ कि उन लड़कों का व्यवहार एकदम ही बदल गया। जिस शराफत को ममी ने उन पर लाद दिया, उसके अनुरूप व्यवहार करना उनकी मजबूरी बन गया। अब जब भी वे अपनी छत पर ममी-पापा को देखते तो अदब में लपेटकर एक नमस्कार और मुझे देखते तो मुस्कान में लपेटकर एक 'हाइ' उछाल देते। फ्रिजियों की जगह बाकायदा हमारा वार्तालाप शुरू हो गया। बड़ा खुला और बेझिझक वार्तालाप। हमारे बरामदे और छत में इतना ही फासला था कि जोर से बोलने पर बातचीत की जा सकती थी। हाँ, यह बात ज़रूर थी कि हमारी बातचीत सारा मोहल्ला सुनता था और काफ़ी दिलचस्पी से सुनता था। जैसे ही हम लोग चालू होते, पास-पड़ोस की खिड़कियों में चार-छह

सिर और धड़ आकर चिपक जाते। मोहल्ले में लड़कियों के प्रेम-प्रसंग न हो, ऐसी बात तो थी नहीं, बाकायदा लड़कियों के भागने तक की घटनाएँ घट चुकी थीं। पर वह सब कुछ बड़े गुप्त और छिपे ढंग से होता था। और मोहल्लेवाले जब अपनी पत्नी नज़रों से ऐसे किसी रहस्य को जान लेते थे तो बड़ा संतोष उन्हें होता था। पुरुष मूँछों पर ताव देकर और स्त्रियाँ हाथ नचा-नचाकर, खूब नमक-मिर्च लगाकर इन घटनाओं का यहाँ से वहाँ तक प्रचार करतीं। कुछ इस भाव से कि अरे, हमने दुनिया देखी है... हमारी आँखों में कोई नहीं धूल झोंक सकता है। पर यहाँ स्थिति ही उलट गई थी। हमारा वार्तालाप इतने खुलेआम होता था कि लोगों को खिड़कियों की ओट में छिप-छिपकर देखना-सुनना पड़ता था और सुनकर भी ऐसा कुछ उनके हाथ नहीं लगता था जिससे वे कुछ आत्मिक संतोष पाते।

पर बात को बढ़ना था और बात बढ़ी। हुआ यह कि धीरे-धीरे छत की मजलिस मेरे अपने कमरे में जमने लगी। रोज़ ही कभी दो, तो कभी तीन या चार लड़के आकर जम जाते और दुनिया-भर के हँसी-मज़ाक और गपशप का दौर चलता। गाना-बजाना भी होता और चाय-पानी भी। शाम को ममी-पापा के मित्र आते तो इन लोगों में से कोई न कोई बैठा ही होता। शुरू में जिन लोगों ने 'मुक्त रहो और मुक्त रखो' की बड़ी प्रशंसा की थी, उन्होंने मुक्त रहने का जो रूप देखा तो उनकी आँखों में भी कुछ अजीब-सी शंकाएँ तैरने लगीं। ममी की एकाध मित्र ने दबी ज़बान में कहा भी—'तनु तो बड़ी फास्ट चल रही है।' ममी को अपना सारा उत्साह मंद पड़ गया था और लीक से हटकर कुछ करने की थ्रिल पूरी तरह झड़ चुकी थी। अब तो उन्हें इस नंगी सच्चाई को झेलना था कि उनकी निहायत ही कच्ची और नाजुक उम्र की लड़की तीन-चार लड़कों के बीच घिरी रहती है। और ममी की स्थिति यह थी कि वे न इस स्थिति को पूरी तरह स्वीकार कर पा रही थीं और न अपने ही द्वारा बड़े जोश में शुरू किये इस सिलसिले को नकार ही पा रही थीं।

आखिर एक दिन उन्होंने मुझे अपने पास बिठाकर कहा, "तनु बेटे, ये लोग रोज़-रोज़ यहाँ आकर जम जाते हैं। आखिर तुमको पढ़ना-लिखना भी तो है। मैं तो देख रही हूँ कि इस दोस्ती के चक्कर में तेरी पढ़ाई-लिखाई सब चौपट हुई जा रही है। इस तरह तो यह सब चलेगा नहीं।"

"रात को पढ़ती तो हूँ!" लापरवाही से मैंने कहा।

"खाक पढ़ती है रात को, समय ही कितना मिलता है? और फिर यह रोज़-रोज़ की धमा-चौकड़ी मुझे वैसे भी पसंद नहीं। ठीक है, चार-छह दिन में कभी आ गये,

गप-शप कर ली, पर यहाँ तो एक न एक रोज़ ही डटा रहता है।" ममी के स्वर में आक्रोश का पुट गहराता जा रहा था।

ममी की यह टोन मुझ अच्छी नहीं लगी, पर मैं चुप।

"तू तो उनसे बहुत खुल गई है, कह दे कि वे लोग भी बैठकर पढ़ें और तुझे भी पढ़ने दें। और तुझसे न कहा जाए तो मैं कह दूंगी।"

पर किसी के भी कहने की नौबत नहीं आई। कुछ तो पढ़ाई की मार से, कुछ दिल्ली के दूसरे आकर्षणों से खिचकर हॉस्टलवाले लड़कों का आना कम हो गया। पर सामने के कमरे से शेखर रोज़ ही आ जाता... कभी दोपहर में, तो कभी शाम को! तीन-चार लोगों की उपस्थिति में उसकी जिस बात पर मैंने ध्यान नहीं दिया, वही बात अकेले में सबसे अधिक उजागर होकर आई। वह बोलता कम था, पर शब्दों के परे बहुत कुछ कहने की कोशिश करता था और एकाएक ही मैं उसकी अनकही भाषा समझने लगी थी... केवल समझने ही नहीं लगी थी, प्रत्युत्तर भी देने लगी थी। जल्दी ही मेरी समझ में आ गया कि शेखर और मेरे बीच प्रेम जैसी कोई चीज़ पनपने लगी है। यों तो शायद मैं समझ ही नहीं पाती पर हिंदी-फिल्में देखने के बाद इसको समझने में खास मुश्किल नहीं हुई।

जब तक मन में कहीं कुछ नहीं था, सब कुछ बड़ा खुला था पर जैसे ही 'कुछ' हुआ तो उसे औरों की नज़र से बचाने की इच्छा भी साथ ही आई। जब कभी दूसरे लड़के आते तो सीढ़ियों से ही शोर करते आते... ज़ोर-ज़ोर से बोलते। लेकिन शेखर जब भी आता, रेंगता हुआ आता और फुसफुसाकर हम बातें करते। वैसे बातें बहुत ही साधरण होती थीं... स्कूल की, कॉलेज की। पर फुसफुसाकर करने में ही वे कुछ विशेष लगती थीं। प्रेम को कुछ रहस्यमय, कुछ गुपचुप बना दो तो वह बड़ा थ्रिलिंग हो जाता है वरना तो एकदम सीधा-सपाट! पर ममी के पास घर और घरवालों के हर रहस्य को जान लेने की एक छठी इंद्रिय है जिससे पापा भी काफ़ी त्रस्त रहते हैं... उससे उन्हें यह सब समझने में ज़रा भी देर नहीं लगी। शेखर कितना ही दब-छिपकर आता और ममी घर के किसी भी कोने में होतीं... फट से प्रकट हो जातीं या फिर वहीं से पूछतीं—'तनु, कौन है तुम्हारे कमरे में?'

मैंने देखा कि शेखर के इस रवैये से ममी के चेहरे पर एक अजीब-सी परेशानी झलकने लगी है। पर ममी इस बात को लेकर यों परेशान हो उठेंगी, यह तो मैं सोच भी नहीं सकती थी। जिस घर में रात-दिन तरह-तरह के प्रेम-प्रसंग ही पीसे जाते रहे हों—कुआरों के प्रेम-प्रसंग, विवाहितों के प्रेम-प्रसंग—दो-तीन प्रेमियों से

एकसाथ चलनेवाले प्रेम-प्रसंग—उस घर के लिए तो यह बात बहुत ही मामूली होनी चाहिए। जब लड़कों से दोस्ती की है तो एकाध से प्रेम भी हो ही सकता है। ममी ने शायद समझ लिया था कि यह सारी स्थिति आजकल की कलात्मक फिल्मों की तरह चलेगी—जिनकी वे बड़ी प्रशंसक और समर्थक हैं—पर जिनमें शुरू से लेकर आखिर तक कुछ भी सनसनीखेज घटता ही नहीं।

जो भी हो, ममी की इस परेशानी ने मुझे भी कहीं हल्के-से विचलित ज़रूर कर दिया। ममी मेरी माँ ही नहीं, मित्र और साथिन भी हैं। दो घनिष्ठ मित्रों की तरह ही हम दुनिया-जहान की बातें करते हैं—हँसी-मज़ाक करते हैं। मैं चाहती थी कि वे इस बारे में भी कोई बात करें, पर उन्होंने कोई बात नहीं की। बस, जब शेखर आता तो वे अपनी स्वभावगत लापरवाही छोड़कर बड़े सजग भाव से मेरे कमरे के इर्द-गिर्द ही मँडराती रहती।

एक दिन ममी के साथ बाहर जाने के लिए मैं नीचे उतरी तो दरवाज़े पर ही पड़ोस की एक भद्र महिला टंकरा गई। नमस्कार और कुशलक्षेम के आदान-प्रदान के बाद वे बात के असली मुद्दे पर आईं।

"ये सामने की छतवाले लड़के आपके रिश्तेदार हैं क्या?"

"नहीं तो।"

"अच्छा? शाम को रोज़ ही आपके घर बैठे रहते हैं तो सोचा, आपके ज़रूर कुछ लगते होंगे।"

"तनु के दोस्त हैं।" ममी ने कुछ ऐसी लापरवाही और निःसंकोच भाव से यह वाक्य उछाला कि बेचारी तीर निशाने पर न लगने का ग़म लिये ही लौट गई।

वे तो लौट गई पर मुझे लगा कि इस बात का सूत्र पकड़कर ही ममी अब ज़रूर मेरी थोड़ी धुनाई कर देंगी। कहनेवाली का तो कुछ न बना पर मेरा कुछ बिगाड़ने का हथियार तो ममी के हाथ में आ ही गया। बहुत दिनों से उनके अपने मन में भी कुछ उमड़-धुमड़ तो रहा ही है पर ममी ने इतना ही कहा:

"लगता है, इनके अपने घर में कोई धंधा नहीं है... जब देखो, दूसरे के घर में चोंच गड़ाए बैठे रहते हैं।"

मैं आश्चर्य ही नहीं हुई बल्कि ममी की ओर से इसे हरा सिगनल समझकर मैंने अपनी रफ़्तार कुछ और तेज़ कर दी। पर इतना ज़रूर किया कि शेखर के साथ तीन घंटों में से एक घंटा ज़रूर पढ़ाई में गुज़ारती। वह बहुत मन लगाकर पढ़ता और मैं बहुत मन लगाकर पढ़ती। हाँ, बीच-बीच में वह कागज़ की छोटी-छोटी पर्चियों पर कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिखकर थमा देता कि मैं भीतर तक

झनझना जाती। उसके जाने के बाद भी उन पंक्तियों के वे शब्द... शब्दों के पीछे के भाव मेरी रा-राग में सनसनाते रहते और मैं उन्हीं में डूबी रहती।

मेरे भीतर अपनी ही एक दुनिया बनती चली जा रही थी—बड़ी भरी-पूरी और रंगीन। आजकल मुझे किसी की ज़रूरत ही महसूस नहीं होती। लगता जैसे मैं अपने में ही पूरी हूँ। हमेशा साथ रहनेवाली ममी भी आउट होती जा रही हैं और शायद यही कारण है कि इधर मैंने ममी पर ध्यान देना ही छोड़ दिया। रोज़मर्रा की बातें तो होती हैं, पर केवल बातें ही होती हैं—उसके परे कहीं कुछ नहीं।

दिन गुज़रते जा रहे थे और मैं अपने में ही डूबी, अपनी दुनिया में और गहरे धँसती जा रही थी—बाहर की दुनिया से एक तरह से बेखबर-सी।

एक दिन स्कूल से लौटी, कपड़े बदले। शोर-शराबे के साथ खाना माँगा, मीन-मेख के साथ खाया और जब कमरे में घुसी तो ममी ने लेटे-लेटे ही बुलाया :

“तनु, इधर आओ।”

पास आई तो पहली बार ध्यान गया कि ममी का चेहरा तमतमा रहा है। मेरा माथा ठनका। उन्होंने साइड-टेबल पर से एक किताब उठाई और उसमें से कागज़ की पाँच-छः पंक्तियाँ सामने कर दीं। ‘तौबा!’ ममी से कुछ पढ़ना था सो जाते समय उन्हें अपनी किताब दे गई थी। ग़लती से शेखर की लिखी पंक्तियाँ उसी में रह गईं।

“तो इस तरह चल रही है शेखर और तुम्हारी दोस्ती? यही पढ़ाई होती है यहाँ बैठकर... यही सब करने के लिए आता है वह यहाँ?”

मैं चुप। जानती हूँ, गुस्से में ममी को जवाब देने से बढ़कर मूर्खता और कोई नहीं।

“तुमको छूट दी... आज्ञादी दी, पर इसका यह मतलब तो नहीं कि तुम उसका नाजायज़ फायदा उठाओ!”

मैं फिर भी चुप।

“बित्ते-भर की लड़की और करतब देखो इनके! जितनी छूट दो उतने ही पैर पसरते जा रहे हैं इनके! झापड़ दूँगी तो सारा रोमांस झड़ जायेगा दो मिनट में...”

इस वाक्य पर मैं एकाएक तिलमिला उठी। तमककर नज़र उठाई और ममी की तरफ देखा—पर यह क्या, यह तो मेरी ममी नहीं हैं। न यह तेवर ममी का है, न यह भाषा। फिर भी ये सारे वाक्य बहुत परिचित से लगे। लगा, यह सब मैंने

कहीं सुना है और खटाक से मेरे मन में कौधा—नाना! पर नाना को भरे तो कितने साल हो गए, ये फिर ज़िदा कैसे हो गये? और वह भी ममी के भीतर... जो होश सँभालने के बाद हमेशा उनसे झगड़ा ही करती रहीं... उनकी हर बात का विरोध ही करती रहीं।

ममी का ‘नानई’ लहजेवाला भाषण काफी देर तक चालू रहा, पर वह सब मुझे कहीं से भी छू नहीं रहा था... बस, कोई बात झकझोर रही थी तो यही कि ममी के भीतर नाना कैसे आ बैठे?

और फिर घर में एक विचित्र-सा तनावपूर्ण मौन छा गया—खास कर मेरे और ममी के बीच। नहीं, ममी तो घर में रही ही नहीं, मेरे और नाना के बीच। मैं ममी को अपनी बात समझा भी सकती हूँ, उनकी बात समझ भी सकती हूँ—पर नाना? मैं तो इस भाषा से भी अपरिचित हूँ और इस तेवर से भी—बात करने का प्रश्न ही कैसे उठता? पापा ज़रूर मेरे दोस्त हैं, पर बिल्कुल दूसरी तरह के। शतरंज खेलना, पंजा लड़ाना और जो फर्माइश ममी पूरी न करें, उनसे पूरी करवा लेना। बचपन में उनकी पीठ पर लदी रहती थी और आज भी बिना किसी झिझक के उनकी पीठ पर लदकर अपनी हर इच्छा पूरी करवा लेती हूँ। पर इतने ‘माई डियर दोस्त’ होने के बावजूद अपनी निजी बातें मैं ममी के साथ ही करती आई हूँ। और वहाँ एकदम सन्नाटा—ममी को पटखनी देकर नाना पूरी तरह उन पर सवार जो हैं।

शेखर को मैंने इशारे से ही लाल झंडी दिखा दी थी सो वह भी नहीं आ रहा और शाम का समय है कि मुझसे काटे नहीं कटता।

कई बार मन हुआ कि ममी से जाकर बात करूँ और साफ-साफ पूछूँ कि तुम इतना बिगड़ क्यों रही हो? मेरी और शेखर की दोस्ती के बारे में तुम जानती तो हो। मैंने तो कभी कुछ छिपाया नहीं। और दोस्ती है तो यह सब तो होगा ही। तुम क्या समझ रही थीं कि हम भाई-बहन की तरह—पर तभी ख्याल आता कि ममी हैं ही कहाँ, जिनसे जाकर यह सब कहूँ।

चार दिन हो गये, मैंने शेखर की सूरत तक नहीं देखी। मेरे हल्के से इशारे से ही उस बेचारे ने तो घर क्या, छत पर आना भी छोड़ दिया। हॉस्टल में रहनेवाले उसके साथी भी छत पर न दिखायी दिये, न घर ही आये। कोई आता तो कम-से-कम उसका हालचाल ही पूछ लेती। मैं जानती हूँ वह बेवकूफी की हद तक भावुक है। उसे तो ठीक से यह भी नहीं मालूम कि आखिर यहाँ हुआ क्या है? लगता है ममी के गुस्से की आशंका मात्र से ही सबके हाँसले पस्त हो गये थे?

वैसे कल से ममी के चेहरे का तनाव कुछ ढीला ज़रूर हुआ है। तीन दिन

से जमी हुई सख्ती जैसे पिघल गई हो। पर मैंने तय कर लिया है कि बात अब ममी ही करेगी।

सवेरे नहा-धोकर मैं दरवाजे के पीछे अपनी यूनिफार्म प्रेस कर रही थी। बाहर मेज़ पर ममी चाय बना रही थीं और पापा अखबार में सिर गड़ाये बैठे थे। ममी को शायद मालूम ही नहीं पड़ा कि मैं कब नहाकर बाहर निकल आई। वे पापा से बोलीं :

“जानते हो, कल रात को क्या हुआ? पता नहीं, तब से मन बहुत खराब हो गया—उसके बाद मैं तो सो ही नहीं पाई।”

ममी के स्वर की कोमलता से मेरा हाथ जहाँ का तहाँ थम गया और कान बाहर लग गये।

“आधी रात के करीब मैं बाथरूम जाने के लिए उठी। सामने छत पर घुप्प अँधेरा छाया हुआ था। अचानक एक लाल सितारा-सा चमक उठा। मैं चौकी। गौर से देखा तो धीरे-धीरे एक आकृति उभर आई। शेखर छत पर खड़ा सिगरेट पी रहा था। मैं चुपचाप लौट आई। कोई दो घंटे बाद फिर गई तो देखा, वह उसी तरह छत पर टहल रहा था। बेचारा ... मेरा मन जाने कैसा हो आया। तनु भी कैसी बुझी-बुझी रहती है ...” फिर जैसे अपने को ही धिक्कारती-सी बोलीं, “पहले तो छूट दो और फिर जब आगे बढ़ें तो खींचकर चारों खाने चित कर दो। यह भी कोई बात हुई भला !”

सहज का एक गहरा निःश्वास मेरे भीतर से निकल पड़ा। जाने कैसा आवेग मन में उमड़ा कि इच्छा हुई, दौड़कर ममी के गले से लग जाऊँ। लगा, जैसे अरसे के बाद मेरी ममी लौटकर आई हों। पर मैंने कुछ नहीं कहा। बस, अब खुलकर बात करूँगी। चार दिन से न जाने कितने प्रश्न मन में घुमड़ रहे थे। अब क्या, अब तो ममी हैं, और उनसे तो कम-से-कम सब कहा-पूछा जा सकता है।

पर घर पहुँचकर जो देखा तो अवाक्! शेखर हथेलियों में सिर थामे कुर्सी पर बैठा है और ममी उसी कुर्सी के हथ्ये पर बैठी उसकी पीठ और माथा सहला रही हैं। मुझे देखते ही बड़े सहज-स्वाभाविक स्वर में बोलीं :

“देखा इस पगले को! चार दिन से ये साहब कालेज नहीं गये हैं। न ही कुछ खाया-पिया है। अपने साथ इसका भी खाना लगवाना।”

और फिर ममी ने खुद बैठकर बड़े स्नेह से मनुहार कर-करके उसे खाना खिलाया। खाने के बाद कहने पर भी शेखर ठहरा नहीं। ममी के प्रति कृतज्ञता के बोझ से झुका-झुका ही वह लौट गया और मेरे भीतर खुशी का ऐसा ज्वार

उमड़ा कि अब तक के सोचे सारे प्रश्न उसी में बिला गए।

सारी स्थिति को सम पर आने में समय तो लगा, पर आ गई। शेखर ने भी अब एक-दो दिन छोड़कर आना शुरू किया और आता भी तो अधिकतर हम लिखाई-पढ़ाई की ही बात करते। अपने किये पर शर्मिंदगी प्रकट करते हुए उसने ममी से वायदा किया कि वह अब कोई ऐसा काम नहीं करेगा, जिससे ममी को शिकायत हो। जिस दिन वह नहीं आता, मैं दो-तीन बार थोड़ी-थोड़ी देर के लिए अपने बरामदे से ही बात कर लिया करती। घर की अनुमति और सहयोग से यों सरेआम चलनेवाले इस प्रेम-प्रसंग में मोहल्लेवालों के लिए भी कुछ नहीं रह गया था और उन्होंने इस जानलेवा ज़माने के नाम पर दो-चार लानतें भेजकर, किसी गुल खिलने तक के लिए अपनी दिलचस्पी को स्थगित कर दिया।

लेकिन एक बात मैंने ज़रूर देखी। जब भी शेखर शाम को कुछ ज्यादा देर बैठ जाता या दोपहर में भी आता तो ममी के भीतर नाना कसमसाने लगते और उसकी प्रतिक्रिया ममी के चेहरे पर झलकने लगती। ममी भरसक कोशिश करके नाना को बोलने तो नहीं देतीं, पर उन्हें पूरी तरह हटा देना भी शायद ममी के बस की बात नहीं रह गयी थी।

हाँ, यह प्रसंग मेरे और ममी के बीच में अब रोज़मर्रा की बातचीत का विषय ज़रूर बन गया था। कभी वे मज़ाक में कहती, “यह जो तेरा शेखर है न, बड़ा लिजलिजा-सा लड़का है। अरे, इस उम्र में लड़कों को चाहिए घूमें, फिरें ... मस्ती मारें। क्या मुहर्रमी-सी सूरत बनाए मजनु की तरह छत पर टंगा सारे समय इधर ही ताकता रहता है।”

मैं केवल हँस देती।

कभी बड़ी भावुक होकर कहतीं, “तू क्यों नहीं समझती बेटे, कि तुझे लेकर कितनी महत्वाकांक्षाएँ हैं मेरे मन में! तेरे भविष्य को लेकर कितने सपने संजो रखे हैं मैंने।”

मैं हँस कर कहती, “ममी, तुम भी कमाल करती हो। अपनी ज़िंदगी को लेकर भी तुम सपने देखो और मेरी ज़िंदगी के सपने भी तुम्हीं देख डालो ... कुछ सपने मेरे लिए भी छोड़ दो !”

कभी वे समझाने के लइजे में कहतीं, “देखो तनु, अभी तुम बहुत छोटी हो। अपना सारा ध्यान पढ़ने-लिखने में लगाओ और दिमाग से ये उल्टे-सीधे फितूर निकाल डालो। ठीक है, बड़े हो जाओ तो प्रेम भी करना और शादी भी। मैं तो वैसे भी तुम्हारे लिए लड़का ढूँढ़नेवाली नहीं हूँ—अपने-आप ही ढूँढ़ना, पर इतनी



अक्ल तो आ जाए कि ढंग का चुनाव कर सको।”

अपने चुनाव के रिजेक्शन को मैं समझ जाती और पूछती, “अच्छा, ममी, बताओ, जब तुमने पापा को चुना था तो वह नाना को पंसद था?”

“मेरा चुनाव! अपनी सारी पढ़ाई-लिखाई खत्म करके पच्चीस साल की उमर में चुनाव किया था मैंने—खूब सोच-समझकर और अक्ल के साथ, समझी!”

ममी अपनी बौखलाहट को गुस्से में छिपाकर कहतीं। उम्र और पढ़ाई-लिखाई—ये दो ही तो ऐसे मुद्दे हैं जिस पर ममी मुझे जब तक धाँसती रहती हैं। पढ़ने-लिखने में मैं अच्छी थी और रहा उम्र का सवाल, सो उसके लिए मन होता कि कहूँ—‘ममी, तुम्हारी पीढ़ी जो काम पच्चीस साल की उम्र में करती थी, हमारी उसे पंद्रह साल की उम्र में ही करेगी, इसे तुम क्यों नहीं समझतीं? पर चुप रह जाती। नाना का जिक्र तो चल ही पड़ा है, कहीं वे ही जाग उठे तो?’

छ:माही परीक्षाएँ पास आ गई थीं और मैंने सारा ध्यान पढ़ने में लगा दिया था। सबका आना और गाना-बजाना एकदम बंद! इन दिनों मैंने इतनी जमकर पढ़ाई की कि ममी का मन प्रसन्न हो गया। शायद कुछ आश्वस्त भी। आखिरी पेपर देने के पश्चात् लग रहा था कि एक बोझ था, जो हट गया है। मन बेहद हल्का होकर कुछ मस्ती मारने को कर रहा था। मैंने ममी से पूछा:

“ममी, कल शोखर और दीपक पिक्चर जा रहे हैं, मैं भी साथ चली जाऊँ?” आज तक मैं इन लोगों के साथ कभी घूमने नहीं गई थी—पर इतनी पढ़ाई करने के बाद अब इतनी छूट तो मिलनी ही थी।

ममी एक क्षण मेरा चेहरा देखती रहीं, फिर बोलीं, “इधर आ, यहाँ बैठ! तुझसे कुछ बात करनी है।”

मैं जाकर बैठ गई पर यह न समझ आया कि इसमें बात करने को क्या है—हाँ कहे या ना। लेकिन ममी को बात करने का मर्ज जो है। उनकी तो हाँ ना भी पचास-साठ वाक्यों में लिपटे बिना नहीं निकल सकती।

“तेरे इम्तिहान खतम हुए, मैं तो खुद पिक्चर का प्रोग्राम बना रही थी। बोल, कौन-सी पिक्चर देखना चाहती है?”

“क्यों, उन लोगों के साथ जाने में क्या है?” मेरे स्वर में इतनी खीज भी हुई थी कि ममी एकटक मेरा चेहरा ही देखती रह गईं।

“तनु, तुझे पूरी छूट दे रखी है बेटे, पर इतनी ही तेज़ चल कि मैं भी साथ तो चल सकूँ।”

“तुम साफ़ कहे न कि जाने दोगी या नहीं? बेकार की बातें... मैं भी साथ

चल सकूँ—तुम्हारे साथ चल सकने की बात भला कहाँ से आ गई?

ममी ने पीठ सहलाते हुए कहा, “साथ तो चलना ही पड़ेगा। कभी औंधे मुँह गिरी तो कोई उठानेवाला भी तो चाहिए न।”

मैं समझ गई कि ममी नहीं जाने देंगी, पर इस तरह प्यार से मना करती हैं तो झगड़ा भी तो नहीं किया जा सकता। बहस करने का सीधा-सा मतलब है कि उनका बयारा हुआ दर्शन सुनो—यानी पचास मिनट की एक क्लास। पर मैं कतई नहीं समझ पाई कि जाने में आखिर हर्ज क्या है, हर बात में न-नुकुर। कहाँ तो कहती थीं कि बचपन में, ‘यह मत करो, वहाँ मत जाओ’ कहकर हमको बहुत डाँटा गया था, और खुद अब वही सब कर रही हैं। देख लिया इनकी बड़ी-बड़ी बातों को। मैं उठी और दनदनाती हुई अपने कमरे में आ गई। हाँ, एक वाक्य ज़रूर थमा आई, “ममी, जो चलेगा, वह गिरेगा भी और जो गिरेगा, वह उठेगा भी और खुद ही उठेगा, उसे किसी की ज़रूरत नहीं है।”

पता नहीं, मेरी बात की उन पर प्रतिक्रिया हुई या उनके अपने मन में ही कुछ जागा कि शाम को उन्होंने खुद शोखर और उसके कमरे पर आये तीनों-चारों लड़कों को बुलवाकर मेरे ही कमरे में मज़लिस जमवाई और खूब गरम-गरम खाना खिलवाया। कुछ ऐसा रंग जमा कि मेरा दोपहरवाला आक्रोश धुल गया।

इम्तिहान खतम हो गये थे और मौसम सुहाना था। ममी का रवैया भी अनुकूल था सो दोस्ती का स्थगित हुआ सिलसिला फिर शुरू हो गया और आजकल तो जैसे उसके सिवाय कुछ रह ही नहीं गया था। पर फिर एक झटका।

उस दिन मैं अपनी सहेली के घर से लौटी तो ममी की सख्त आवाज़ सुनाई दी:

“तनु, इधर आओ तो!”

आवाज़ से ही लगा कि यह खतरे का सिगनल है। एक क्षण को मैं सकते में आ गई। पास गई तो चेहरा पहले की तरह सख्त।

“तुम शोखर के कमरे पर जाती हो?” ममी ने बंदूक दागी। समझ गई कि पीछे गली में से किसी ने अपना करतब कर दिखाया।

“कब से जाती हो?”

मन तो हुआ कि कहूँ जिसने जाने की खबर दी है, उसने बाकी बातें भी बता ही दी होंगी... कुछ जोड़-तोड़कर ही बताया होगा। पर ममी जिस तरह भभक रही थी, उसमें चुप रहना ही बेहतर समझा। वैसे मुझे ममी के इस गुस्से का कोई कारण समझ में नहीं आ रहा था। दो-तीन बार यदि मैं थोड़ी-थोड़ी देर के लिए

शेखर के कमरे पर चली गई तो ऐसा क्या गुनाह हो गया? पर ममी का हर काम सकारण तो होता नहीं—बस, वे तो मूड पर ही चलती हैं।

अजीब मुसीबत थी—गुस्से में ममी से बात करने का कोई मतलब नहीं— और मेरी चुप्पी ममी के गुस्से को और भड़का रही थी।

“याद नहीं है, मैंने शुरू में ही तुम्हें मना कर दिया था कि तुम उनके कमरे पर कभी नहीं जाओगी। तीन-तीन घंटे वह यहाँ धूनी रमाकर बैठता है, उसमें जी भरा नहीं तुम्हारा?”

दुःख, क्रोध और आतंक की परतें उनके चेहरे पर गहरी होती जा रही थीं और मैं समझ ही नहीं पा रही थी कि कैसे उन्हें सारी स्थिति समझाऊँ!

“वह तो बेचारे सामनेवालों ने मुझे बुलाकर आगाह कर दिया—“जानती है, यह सिर आज तक किसी के सामने झुका नहीं, पर वहाँ मुझसे आँख नहीं उठाई गई। मुँह दिखाने लायक मत रखना हमको कहीं भी। सारी गली में थू-थू हो रही है। नाक कटाकर रख दी।”

ग़ज़ब!

इस बार तो सारा मोहल्ला ही बोलने लगा ममी के भीतर से! आश्चर्य है कि जो ममी आज तक अपने आस-पास से बिल्कुल कटी हुई थीं—जिसका मजाक उड़ाया करती थीं—आज कैसे उसके सुर-में-सुर मिलाकर बोल रही हैं!

ममी का भाषण बदस्तूर चालू—पर मैंने तो अपने कान के स्विच ही ऑफ कर लिये। जब गुस्सा ठंडा होगा—ममी अपने में लौट आरेंगी तब समझा दूँगी—ममी, इस छोटी-सी बात को तुम नाहक इतना तूल दे रही हो।

पर जाने कैसी डोज़ ले आई हैं इस बार कि उनका गुस्सा ठंडा ही नहीं हो रहा है और हुआ यह कि अब उनके गुस्से से मुझे गुस्सा चढ़ने लगा।

फिर घर में एक अजीब-सा तनाव छा गया। इस बार ममी ने शायद पापा को भी सब कुछ बता दिया है। कहा तो उन्होंने कुछ नहीं—वे शुरू से ही इस सारे मामले में आउट रहे—पर इस बार उनके चेहरे पर भी एक अनकहा-सा तनाव दिखाई ज़रूर दे रहा है।

कोई दो महीने पहले जब इस तरह की घटना हुई थी तो मैं भीतर तक सहम गई थी, पर इस बार मैंने तय कर लिया है कि इस सारे मामले में ममी को यदि नाना बनकर ही व्यवहार करना है तो मुझे भी फिर ममी की तरह ही मोर्चा लेना होगा उनसे—और मैं ज़रूर लूँगी। दिखा तो दूँ कि मैं तुम्हारी ही बेटी हूँ और तुम्हारे ही नक्शे-क़दम पर चली हूँ। खुद तो लीक से हटकर चली थीं—सारी

ज़िंदगी इस बात की धुट्टी पिलाती रहीं, पर मैंने जैसे ही अपना पहला क़दम रखा, घसीटकर मुझे अपनी ही खींची लीक पर लाने के दंड़-फंद शुरू हो गये।

मैंने मन में ढेर-ढेर तर्क सोच डाले कि एक दिन बाकायदा ममी से बहस करूँगी। साफ-साफ कहूँगी कि ममी, इतने ही बंधन लगाकर रखना था तो शुरू से वैसे पालतीं। क्यों झूठ-मूठ आज्ञादी देने की बातें करती-सिखाती रहीं! पर इस बार मेरा भी मन सुलगकर इस तरह राख हो गया था कि मैं गुमसुम-सी अपने ही कमरे में पड़ी रहती। मन बहुत भर आता तो रो लेती। घर में सारे दिन हँसती-खिलखिलाती रहनेवाली मैं एकदम चुप होकर अपने में ही सिमट गई थी। हाँ, एक वाक्य ज़रूर बार-बार दोहरा रही थी—“ममी, तुम अच्छी तरह समझ लो कि मैं भी अपने मन की ही करूँगी।” हालाँकि मेरे मन में क्या है, इसकी कोई भी रूपरेखा मेरे सामने न थी।

मुझे नहीं मालूम कि इन तीन-चार दिनों में बाहर क्या हुआ? घर-बाहर की दुनिया से कटी, अपने ही कमरे में सिमटी, मैं ममी से मोर्चा लेने के दाँव सोच रही थी।

पर आज दोपहर मुझे कतई-कतई अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ जब मैंने ममी को अपने बदामदे से ही चिल्लाते हुए सुना:

“शेखर, कल तो तुम लोग छुट्टियों में अपने घर चले जाओगे, आज शाम अपने दोस्तों के साथ खाना इधर ही खाना।”

नहीं जानती, किस जद्दोजहद से गुज़रकर ममी इस स्थिति पर पहुँची होंगी। और रात को शेखर दीपक और रवि के साथ खाने की मेज़ पर डटा हुआ था। ममी उतने ही प्रेम से खाना खिला रही थीं—पापा वैसे ही खुले ढंग से मज़ाक कर रहे थे, मानो बीच में कुछ घटा ही न हो। अगल-बगल की खिड़कियों में दो-चार सिर चिपके हुए थे। सब कुछ पहले की तरह बहुत सहज-स्वाभाविक हो उठा था—।

केवल मैं इस सारी स्थिति से एकदम तटस्थ होकर यही सोच रही थी कि नाना पूरी तरह नाना थे—शत-प्रतिशत—और इसी से ममी के लिए लड़ना कितना आसान हो गया होगा। पर इन ममी से लड़ा भी कैसे जाए जो एक पल नाना होकर जीती हैं तो एक पल ममी होकर!